

स्वाधीन भारत की पत्रकारिता : दो विचार



उमेश चतुर्वेदी

आजादी के साठ साल बाद भारतीय और खास तौर पर हिन्दी पत्रकारिता कहाँ खड़ी है। उमेश चतुर्वेदी ने इस मसले पर वरिष्ठ गांधीवादी पत्रकार श्री देवदत्त और श्री जितेन्द्र गुप्त से बातचीत की। दोनों ने अपनी-अपनी तरह से पत्रकारिता की बदलती भूमिका का विश्लेषण किया। लेकिन दोनों ही एक बिन्दु पर सहमत हैं कि मौजूदा दौर में गंभीर विचारों की पत्रकारिता का स्थान लगातार घटा है। पेश हैं बातचीत के अंश-

पत्रकारिता का बौद्धिक फलक और संवेदना का दायरा संकुचित हो रहा है - देवदत्त

- आजादी के इन साठ सालों में पत्रकारिता, खासतौर पर हिंदी पत्रकारिता में आपको क्या बदलाव नज़र आता है?
- देखिए, हमें ये नहीं भूलना चाहिए की इन साठ सालों में दुनिया की राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक मानदंडों और अर्थव्यवस्था में अनेक तब्दीलियां आ गई हैं। विज्ञान और तकनीक ने दुनिया का नक्शा ही बदल दिया है। जाहिर है

ऐसे में आजादी के बाद की पत्रकारिता, आजादी के पहले की पत्रकारिता जैसी कैसे हो सकती है? गणेश शंकर विद्यार्थी, बाबूराव विष्णुराव पराड़कर, सदानंद, रामाराव, गांधी जी, इन सबने पत्रकारिता के मानदंड स्थापित किए। सब प्रातः स्मरणीय लोग हैं। लेकिन आज उनके मानदंडों पर पत्रकारिता नहीं की जा सकती। आखिर क्या वजह हैं? उस दौर में पत्रकारिता एक सामाजिक आदर्श था। चूँकि उस दौर में सबसे अहम



श्री देवदत्त

आज के पत्रकार और पत्रकारीय संस्थाओं के बौद्धिक फलक और संवेदना का दायरा लगातार संकुचित होता जा रहा है, यही वजह है कि आज की भारतीय पत्रकारिता में तत्कालिक चिंताएँ तो दिखती हैं, लेकिन दूरगामी परिणामों के बारे में चर्चा नहीं होती।

मसला था देश को अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त कराना, लिहाजा, लोग अपनी पारिवारिक जिम्मेदारी, निजी आकांक्षाओं को एक हद तक तिलांजलि दे देते थे। लेकिन आज का पत्रकार ऐसा नहीं कर सकता। उसे जीवन यापन भी करना है। तब पत्रकारिता पर मिशनरी पक्ष हावी था, आज व्यावसायिकता हावी है। आप गांधी की पत्रकारिता से आज की पत्रकारिता की तुलना नहीं कर सकते। अब तो गांधी पत्रकार थे ही नहीं। मूलतः वे राजनेता थे और उनकी राजनीतिक जरूरतों को पूरा करने में उनकी पत्रकारिता सहयोगी थी। गांधी के मूल्यों को जिंदगी में अपना सकते हैं, लेकिन सिर्फ उसी के आधार पर जिंदगी की गाड़ी आगे नहीं बढ़ सकती। खासतौर पर आज पत्रकारिता की दुनिया तो मौजूदा हालात, मूल्यों और ताकतों से अछूती रह ही नहीं सकती। मीडिया में आज चार माध्यम हो गए हैं। प्रिंट का करीब दो सौ साल का इतिहास है। रेडियो की जिंदगी 70-75 साल की है। टेलीविजन की दुनिया पच्चीस सालों की है और इंटरनेट की उम्र महज दस साल है। जाहिर है चारों का स्वभाव, चरित्र और प्राथमिकताएँ अलग ही होंगी, कुछ जैसे ही जैसे अलग-अलग उम्र और वर्ग के लोगों की अपनी सोच और जरूरतें होती हैं। लेकिन सभी को एक ही कसौटी पर कसा जा रहा है। मैं इसे ठीक नहीं मानता।

- **तो पत्रकारिता के पूरे परिदृश्य को आप किस तरह देखते हैं ?**
- आज राज्यों और राष्ट्रीय अखबारों का भी अपना चरित्र है, अपना चाल-चलन है। अंग्रेजी मीडिया आज भी अभिजात्य के अहंकार से ग्रस्त है। उसका हिंदी मीडिया से कोई तालमेल नहीं है और हकीकत तो ये है कि इसे जवाहरलाल नेहरू से लेकर मनमोहन सिंह तक ने संरक्षण दिया है। आपने देखा होगा कि अंग्रेजी पत्रकारों के सवालों का जवाब प्रधानमंत्री पहले देता है और हिंदी या दूसरी भाषाओं के पत्रकारों पर उसकी कम ही निगाह रहती है।
- **क्या आज के दौर में आजादी के पहले के मानदंडों पर पत्रकारिता करना मुश्किल है ?**
- इसे मैं एक उदाहरण से समझाता हूँ। आज आर्थिक और कारपोरेट का जमाना है। इस दौर में आर्थिक ताकतों के अंदर के घोटालों का उजागर करना अंग्रेजी के आर्थिक पत्रकारों के लिए कठिन है। क्योंकि उन्हें कारपोरेट के अंदर से ही इसकी जानकारी मिल सकती है और अगर वह उसकी तस्दीक भी

करना चाहेगा तो उसके लिए भी उसे कारपोरेट पर ही निर्भर करना पड़ेगा। कारपोरेट भी ऐसी खबरें किसी खास मकसद से ही देता है। कई बार लेन-देन का भी चक्कर होता है। ऐसे में वह पुराने मूल्यों के आधार पर काम नहीं कर सकता। कोई दूसरा तंत्र नहीं है कि पत्रकार इस पर नजर रख सके। आप कल्पना करिए कि सारे कारपोरेट घरानों में एकता हो गई तो क्या कोई आर्थिक घोटाले बाहर आ सकेंगे। हमारे यहां ऐसा न तो तंत्र विकसित हुआ है और ना ही ऐसे कामों के लिए संसाधन देने वाली संस्थाएं हैं। लेकिन अमेरिका में ऐसी संस्थाएं हैं। वे बुश के चुनाव फंड में चंदा भी देती हैं तो इराक या वियतनाम में काम करने वाले पत्रकार को अमेरिकी प्रशासन की विफलताओं की पोल खोलने में भी मदद देती है। इसलिए मेरा यह मानना है कि मजबूत विपक्ष के बिना मीडिया भी 'वाचडॉग' की भूमिका नहीं निभा सकता। यही वजह है कि आज भी हमारे यहां मीडिया की स्वतंत्रता में भरोसा करने वाले संस्थानों की जरूरत बनी हुई है।

- **आज मीडिया का कार्यक्रम (एजेंडा) कौन तय कर रहा है, मीडिया संस्थान, राजनीति या फिर बाजार की ताकतें ?**
- इस सवाल का जवाब देखने के लिए हमें यह भी देखना होगा कि आज राष्ट्रों का एजेंडा कौन तय कर रहा है। वैश्वीकरण, एक ध्रुवीय व्यवस्था होने, आर्थिक, वैज्ञानिक और तकनीकी साधनों की कमी की वजह से आज एजेंडे तय हो रहे हैं। पार्टियां अपनी वोट की राजनीति के हिसाब से एजेंडा तय करती हैं। बाजार की ताकतें अपने हितों के चलते एजेंडा तय कर रही हैं। अब तो मीडिया का एजेंडा तय करने में मीडिया की अपनी खास भूमिका नहीं है। लेकिन इनके विरोधाभासों को उजागर करने में मीडिया का अहम योगदान है। मीडिया एजेंडा तय तो नहीं करता, लेकिन संक्रमण के दौर में, संकट के समय में वह एजेंडे पर असर जरूर डालता है। सच तो ये है कि एजेंडा तय करने में मीडिया का संस्थागत भूमिका नहीं है। एजेंडे की दिशा बदलने में उसकी भूमिका बेहद कम है। हालांकि आज का पत्रकार यह जरूर सोचता है कि इस संदर्भ में उसकी बड़ी भूमिका है। हां, आजादी के पहले एजेंडा तय करने और बदलने में मीडिया की भूमिका ज्यादा थी। शायद यही वजह रही कि गांधी जी ने भी उस दौर में मीडिया का भरपूर उपयोग किया।
- **मीडिया पर यह आरोप है कि आम आदमी के सरोकारों की चिंताएं वह नहीं कर रहा है। आप इससे कहां तक सहमत हैं ?**

□ मैं इससे इत्तेफाक नहीं रखता। प्रिंट माध्यम का जहां तक सवाल है, आम आदमी, दलित और महिलाओं की चिंताएं करता है उसकी वजह भी है। हां, ये भी पार्टियों के हिसाब से तय होता है। पार्टियां जिस तरह आम आदमी को पेश करती हैं, अपनी जरूरतों के मुताबिक आम आदमी की हालत पेश करती हैं और मीडिया उसे ही लपक लेता है। सच तो यह है कि आज भी पत्रकारिता पक्की सड़क से आगे नहीं जाती। सही मायने में देहाती पत्रकारिता आज तक शुरू नहीं हो पाई है। इसलिए यह भी सच है कि हाशिए पर बैठे व्यक्ति के सरोकारों और उनके हालात की चिंताएं मीडिया उतनी शिद्धत से नहीं कर रहा, जितनी होनी चाहिए। लेकिन मीडिया सीमित ही सही, अपनी भूमिका निभा रहा है। यही वजह है कि व्यवस्था भी सचेत रहती है। इसके साथ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हर कोई 'पी साईनाथ' नहीं हो सकता।

● **कई मसले ऐसे हैं-जिनको छुआ नहीं जाता। आर्थिक दौर का फायदा क्या सचमुच आम लोगों तक पहुँच पाया है? लेकिन मीडिया को इसकी चिंता नहीं है।**

□ एक हद तक मैं इससे सहमत हूँ। देखिए आज चर्चा हो रही है कि मुद्रा स्फीति अब तक सबसे कम है। यानी करीब तीन फीसदी। हकीकत ये है कि मुद्रा स्फीति 'कंज्यूमर प्राइस इंडेक्स' यानी सीपीआई और 'होलसेल प्राइस इंडेक्स' यानी एचपीआई दोनों से तय होती है। आज जो कम मुद्रा स्फीति है, वह एचपीआई से तय हो रही है। आम आदमी से सामान और जरूरत की चीजें आज भी दूर हैं। लेकिन इसे ना तो कोई अखबार उठा रहा है और ना ही इसकी चिंता दिख रही है। जबकि सबसे बड़ी बात ये है कि मुद्रास्फीति कम होने का फायदा आम आदमी को नहीं मिल पा रहा है। लेकिन इसे कोई नहीं उजागर कर रहा, हाँ, अंग्रेजी और आर्थिक अखबार इस उलट बांसी को उजागर कर रहे हैं। लेकिन उन्हें आम आदमी तो पढ़ता ही नहीं है।

● **आखिर ऐसा क्यों हो रहा है?**

□ संपादकों की बौद्धिक तैयारी की कमी की वजह से। फिर आज का मालिक ही संपादक है। उसकी चिंताओं में आम आदमी की ये असल परेशानियां नहीं हैं। आप कुछ हद तक कह सकते हैं कि इन अर्थों में अपने स्वार्थों से एजेंडा तय हो रहा है। 1926 से 1932 के दौरान डॉलर में जो ऐतिहासिक मंदी आई, उसकी मार आज तक कई लैटिन अमेरिकी और

सच है कि हाशिए पर बैठे व्यक्ति के सरोकारों और उनके हालात की चिंताएँ मीडिया उतनी शिद्धत से नहीं कर रहा, जितनी होनी चाहिए, लेकिन मीडिया सीमित ही सही, अपनी भूमिका निभा रहा है।

अफ्रीकी देश भुगत रहे हैं। एक बार फिर डॉलर में मंदी का दौर है। लेकिन इस पर चिंता नहीं जताई जा रही है। किसी को इसकी फिक्र नहीं है। जबकि हकीकत ये है कि आज दुनिया की अर्थव्यवस्था डॉलर आधारित ही है और इसके असर दूरगामी होंगे। यही क्यों, परमाणु तकनीक की आज खूब चर्चा हो रही है। अमेरिका के साथ करार पर प्रधानमंत्री का जोर है कि अगले बीस सालों में इससे ऊर्जा जरूरतें पूरी की जाएंगी। लेकिन ये कोई बताने वाला नहीं है कि यूरोप और अमेरिका खुद परमाणु ऊर्जा से दूर जा रहे हैं। गैस और पानी आधारित ऊर्जा प्लान्ट लगा रहे हैं। पवन बिजली बना रहे हैं। इतना ही नहीं, तकनीक ने दुनिया को किस कदर बदल दिया है, इसका जो विध्वंसक रूप है, उसकी चर्चा भी नहीं है। हकीकत तो यह है कि आज के पत्रकार और पत्रकारीय संस्थाओं के बौद्धिक फलक और संवेदना का दायरा लगातार संकुचित होता जा रहा है। यही वजह है कि आज की भारतीय पत्रकारिता में तात्कालिक चिंताएं तो दिखती हैं-लेकिन दूरगामी परिणामों के बारे में चर्चा नहीं होती।

● **मौजूदा संदर्भों में आप भारत में पत्रकारिता का कैसा भविष्य देखते हैं?**

□ देखिए, तात्कालिकता पर ज्यादा जोर रहेगा। पाठकों की संख्या लगातार बढ़ रही है इसकी जिम्मेदारी अखबारों पर ज्यादा है। वैसे आज के पाठकों की जरूरतें भी ज्यादा हैं। जाहिर है, ऐसे में उन्हें जानकारी देने के लिए अखबारों पर दबाव रहेगा। सूचना देने और जानकारी देने में अखबारों की भूमिका बढ़ेगी, संस्था के रूप में नए संदेशों को देने में भूमिका रहेगी। लेकिन मीडिया को इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि वह निर्णायक भूमिका निभाएगा। □

व्यावसायिकता ने बदल डाले हैं अखबारों के सरोकार - जितेन्द्र गुप्त

नयी पीढ़ी के पत्रकारों के लिए श्री जितेन्द्र गुप्त का नाम भले ही अनजान हो, लेकिन एक पूरी की पूरी पीढ़ी जितेन्द्र गुप्त को पढ़ते हुए आगे बढ़ी है। जितेन्द्र जी 1967 में दिनमान के शुरू होने के बाद से बतौर सहायक संपादक जुड़े और उसके बाद रघुवीर सहाय, डॉक्टर कन्हैयालाल नंदन और घनश्याम पंकज के भी साथ सहायक संपादक रहे। आखिरी दो-चार अंकों में दिनमान की प्रिंट लाइन में नाम भी छपा, लेकिन बतौर सहायक संपादक ही और 1992 में सहायक संपादक रहते ही सेवानिवृत्त भी हो गए। इन पच्चीस वर्षों में उन्होंने राजनीति, सामाजिक और आर्थिक पत्रकारिता को करीब से देखा है। आजादी के बाद की पत्रकारिता पर उनके अपने विचार हैं, अपनी जानकारी और चिंताएं भी हैं।



श्री जितेन्द्र गुप्त

● हिंदी पत्रकारिता की साठ साल की इस यात्रा को आप किस तरह से देखते हैं?

□ देखिए, मैं साठ साल की पत्रकारिता को मुख्यतः तीन हिस्सों में बाँटता हूँ। 1947 से पहले की पत्रकारिता मिशनरी भाव की पत्रकारिता थी। लेकिन मैं यहां साफ कर देना चाहता हूँ कि आजादी के पहले भी आर्थिक हितों का ध्यान जरूर रखा जाता था। ऐसे भी पत्र और पत्रकार थे, जिन्होंने जुर्माना देकर अखबार निकाला, लेकिन अपने आर्थिक हितों का ध्यान रखने वाले भी लोग थे। शायद यही वजह है कि 1947 से 1962 तक की पत्रकारिता आशाओं और संभावनाओं की पत्रकारिता रही है। इसे आशाओं का दौर भी कह सकते हैं। आजादी के आंदोलन के दौरान जो सपने देखे गए थे, उन्हें पूरा करने का दौर था। पूरा देश नेहरू पर निगाह लगाए हुए था। इसी दौर में रिहंद, भाखड़ा, हीराकुंड जैसे बांध बने, भिलाई इस्पात संयंत्र की स्थापना हुई, एलआईसी का राष्ट्रीयकरण हुआ, जमींदारी उन्मूलन हुआ। तो देश में हर तरफ एक नया उत्साह था। लेकिन 1962 में चीन ने आक्रमण किया तो पता चला कि हम लोग तो कुछ कर ही नहीं सकते, और फिर पूरा परिदृश्य ही बदल गया।

● तो क्या 1962 के बाद से पत्रकारिता भी बदल जाती है?

□ जी हां, 1962 के बाद पूरी भारतीय पत्रकारिता बदलने लगती है। मैं 1962 से 1980 तक को एक दौर की पत्रकारिता मानता हूँ। मोहभंग का दौर शुरू होने लगता है। हमें नहीं भूलना चाहिए कि चीन के हमले के बाद जो देश पस्त पड़ा

था-उसमें नया संचार आ जाता है। लाल बहादुर शास्त्री की अगुआई में देश पाकिस्तान पर 1965 में ऐतिहासिक जीत हासिल करता है। इसी दौर में गैर-कांग्रेसवाद का बोलबाला बढ़ा। इसका असर दिखा भी। 1967 में हिंदी भाषी राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें बनती हैं और देश में एक नई चेतना का संचार होता है। 1971 आता है और बांग्लादेश का निर्माण होता है। इसी दौर में दिनमान का प्रकाशन शुरू होता है और एक दौर ऐसा आता है कि पूरे हिन्दी भाषी बौद्धिकों और राजनीतिक वर्ग का प्यारा साप्ताहिक बन गया। आपातकाल इसी दौर में लगा। लोगों को जयप्रकाश नारायण और जनता पार्टी से नई उम्मीद जागती हैं।

लेकिन उनसे भी मोहभंग होता है। क्योंकि जनता का ये प्रयोग भी नहीं चला।

● 1980 के बाद की पत्रकारिता को आप किस नजरिए से देखते हैं?

□ इस दौर को मैं व्यावसायिकता के हावी होने का दौर मानता हूँ। इसी दौर में इंदिरा गांधी की आर्थिक नीतियां बदलनी शुरू हुईं। राजीव के आते-आते तक तो देश में उदारीकरण का बीज रोपा जा चुका था। जिस पेप्सी और कोका कोला को 1977 में जार्ज फर्नांडिस की अगुवाई में भगाया गया था, उसी पेप्सी को 1988-89 में राजीव गांधी ने भारत में काम करने की अनुमति दे दी। इस उदारीकरण ने पूरा परिदृश्य ही बदल दिया। राजनीति की दुनिया में भी बदलाव दिखने लगे। इसका असर पत्रकारिता पर भी दिखने लगा। इसी दौर में अखबारी संस्थाओं में मालिकों की नई पीढ़ी आने लगी। जिसे ये देखकर कोफ्त होती थी कि उनके वेतनभोगी संपादकों को तो प्रधानमंत्री से मुलाकात का वक्त मिल जाता है। लेकिन उन्हें नहीं मिलता। तो उन्होंने संपादक नाम की संस्था पर ही

हमला शुरू कर दिया। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। टाइम्स ऑफ इंडिया में उन दिनों गिरिलाल जैन जी संपादक थे और उनकी तूती बोलती थी। लेकिन नए मालिकों को गिरिलाल जी पसंद नहीं थे। टाइम्स ग्रुप में एक परंपरा थी। साल के पहले रविवार को मुख्य उप संपादक स्तर से लेकर ऊपर तक के लोगों को टाइम्स प्रबंधन एक पार्टी देता था। 1987-88 की बात है। एक ऐसी ही पार्टी में जब टाइम्स ऑफ इंडिया के सहायक संपादक दिलीप पडगांवकर से गिरिलाल जैन की नकल उतारने को कहा गया और उन्होंने किया भी। बाद में वे टाइम्स ऑफ इंडिया के संपादक बनाये गए। तो जाहिर है कि किस तरह संपादक संस्था पर प्रबंधन का शिकंजा कस रहा था। इस दौर में मालिकों की नई पीढ़ी ऐसे संपादक ढूँढ रही थी, जो उनके इशारे पर काम करे। इसका असर पत्रकारिता पर पड़ना ही था। यानी व्यावसायिकता हावी होनी शुरू हुई और इसका असर अब साफ नजर आ रहा है।

- तो क्या इसी दौर में मालिक-संपादकों की परंपरा शुरू हुई?
- जहाँ तक टाइम्स ऑफ इंडिया की बात है तो 1980 के दौर में हिंदी प्रेमी रमारानी जैन और शांति प्रसाद जैन की मौत हो चुकी थी। इसका असर टाइम्स ग्रुप की हिंदी पत्रकारिता पर पड़ना शुरू हुआ। हिंदी पत्र तो पहले भी अंग्रेजी के बाद दूसरी प्राथमिकता थे। लेकिन दोनों की मौत के बाद ये प्रवृत्ति और बढ़ती गई। लेकिन हमें ये नहीं भूलना चाहिए कि हिंदी में इसी दौर में दो अखबार ऐसे भी निकल रहे थे-जिनकी साख और गुणवत्ता राष्ट्रीय स्तर पर भी थी और ये दोनों अखबार मालिक संपादक ही निकाल रहे थे। जयपुर से कर्पूरचंद कुलिश 'राजस्थान पत्रिका' और इंदौर से लाभचंद छजलानी 'नई दुनिया' निकाल रहे थे। लेकिन मालिक संपादकों की परंपरा इसी दौर में शुरू होती है। इसी दौर में व्यवसायिकता हावी होने लगी। अखबारों के सरोकार बदलने लगे।
- क्या आपको लगता है कि मौजूदा दौर में अखबार खबरिया टेलीविजन चैनलों के दबाव में हैं? कहा तो ये भी जा रहा है कि आजकल आम आदमी के सरोकारों से अखबार दूर होते जा रहे हैं।
- हाँ, दबाव में हैं। लेकिन यह कहना गलत होगा कि अखबारों से आम आदमी के सरोकार दूर हो रहे हैं। कम जरूर हो रहे हैं। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की तरह अखबार बिलकुल ही आम आदमी से दूर हो जाएंगे ऐसा नहीं है। इसकी एक वजह ये भी है कि अखबारों को आखिरकार आम आदमी के बीच ही बिकना है। इसलिए अखबारों की दुनिया से आम आदमी के सरोकार

यह कहना गलत होगा कि अखबारों से आम आदमी के सरोकार दूर हो रहे हैं, कम जरूर हो रहे हैं... हाँ टेलीविजन के दबाव में चिकने पेज पर अर्द्धनग्न फोटो जरूर छपने लगे हैं।

कम नहीं होने वाले। हां, टेलीविजन के दबाव में चिकने पेज पर अर्द्धनग्न फोटो जरूर छपने लगे हैं। हां, ये जरूर है कि अखबारों में भी आम आदमी की बातें कम हो रही हैं। 27 हजार भूमिहीनों के एक जत्थे ने गांधी जयंती पर ग्वालियर से अपनी पदयात्रा शुरू की और राजघाट पर खत्म हुई। लेकिन जैसी कवरेज इसकी होनी चाहिए थी, वैसी नहीं हुई। टेलीविजन का दबाव अखबारों पर भी दिख रहा है। आज अखबार तस्वीरें ज्यादा दे रहे हैं।

- आज के दौर में मध्यवर्ग सबसे बड़ा नियामक हो गया है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया उसका ज्यादा ध्यान रखता है, क्या अखबार भी मध्य वर्ग का ध्यान रखते हैं?
- हां, अखबार भी ध्यान रखते हैं। प्रियदर्शिनी मट्टू केस हो या फिर जेसिका लाल केस, ये विषय मध्य वर्ग को प्रभावित करते हैं। इसलिए अखबारों ने इसे उछाला और इसका असर भी दिखा। मध्यवर्ग ही आज के दौर का प्रमुख खरीददार है। जाहिर है आज विज्ञापन भी उसके लिए बन रहे हैं और अखबारों को मिल रहे हैं। ऐसे में उनकी पसंद की चीजें और उनकी जिंदगी पर असर डालने वाली चीजें भी प्रकाशित होंगी ही और अखबार इससे मुंह नहीं मोड़ सकते।
- आज मीडिया का एजेंडा कौन तय कर रहा है, राजनीति, बाजार की ताकतें या फिर मीडिया संस्थान?
- मीडिया का एजेंडा तो सोलह आने कोई नहीं तय कर रहा है। राजनीति कई बार अपने ढंग से कुछ एजेंडा तय करती है। व्यावसायिक प्रतिष्ठान भी अपने ढंग से तय करते हैं। बाजार की ताकतें भी अपनी तरह से एजेंडा तय करती हैं। लेकिन ये सब एक सीमित मात्रा में ही होता है और हो सकता है। इसकी वजह ये है कि अखबार आखिरकार आम आदमी के लिए ही उत्पाद है और जिस दिन उसे लगेगा कि उस पर एजेंडा थोपा जा रहा है तो वह उस अखबार-पत्रिका को नापसंद कर सकता है। इसलिए कई बार तो पाठक के हिसाब से भी एजेंडा तय होता है। □

उमेश चतुर्वेदी 'ज़ी न्यूज़' के नोएडा कार्यालय में प्रोड्यूसर हैं